

जीवन में श्रद्धा का स्थान

—आचार्य श्री आनन्दकृष्णजी म० सा०

आज का भारतीय जीवन इतना श्रीहीन, शक्तिहीन, क्षीण और दलित क्यों है? इसका प्रधान कारण है, मनुष्यों के हृदय में श्रद्धा का अभाव। अश्रद्धा और सन्देह से परिपूर्ण हृदय वाला-व्यक्ति-सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर पाता है, क्योंकि वास्तविक शक्ति का स्रोत आत्मा है और श्रद्धा के अभाव में आत्मबल का कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी का कथन है—

To trust is a virtue, It is weakness that begets distrust.

विश्वास एक सद्गुण है और अविश्वास दुर्बलता की जननी है। श्रद्धा या विश्वास के अभाव में व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उसमें कभी सफलता हासिल नहीं कर पाता। सन्देह का अन्धकार उसे पथभ्रष्ट कर देता है। उस पर यह कहावत चरितार्थ होती है कि—“दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम”

श्रद्धा ही जीवन की रीढ़ है। जैसे बिना रीढ़ के जिस प्रकार शरीर गति नहीं करता, उसी प्रकार श्रद्धा के अभाव में जीवन गति नहीं करता है। श्रद्धा ही मनुष्य में मनुष्यता का सृजन करती है और वही उसे कल्याण के पथ पर अग्रसर करती है। जिस व्यक्ति के हृदय में श्रद्धा नहीं होती, उसका मन चंचल बना रहता है। उसके विचारों में तथा क्रियाओं में कभी स्थिरता और दृढ़ता नहीं आ पाती है। इस कारण यह एकनिष्ठ होकर किसी भी साधना में नहीं लग पाता। कभी वह एक राह पर चलता है तो कभी दूसरी पर, परिणाम यह होता है कि वह अपने किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाता। अपने अस्थिर और विभिन्न विचारों के कारण सदा भटकता रहता है और भव-भ्रमण बढ़ाता है। इसके विपरीत जो श्रद्धावान् पुरुष होता है, वह अपने अटल विश्वास के द्वारा इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। गीता में कहा गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

जिस व्यक्ति का अन्तःकरण श्रद्धा से पूर्ण होता है, वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही अक्षय शान्ति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी भी बन जाता है।

यह सारी करामात केवल श्रद्धा की है। वही प्राणी को पापों से परे रखती हुई आत्म-शुद्धि के मार्ग पर बढ़ाती है। श्रद्धा के न होने पर मनुष्य कितनी भी विद्वत्ता क्यों न प्राप्त कर ले, उसका कोई लाभ नहीं होता। विद्वत्ता की शक्ति श्रद्धा में निहित है। श्रद्धावान् विद्वान् न होने पर भी अपने कर्म-नाश करके संसार-सागर को पार कर लेता है और श्रद्धा के बिना विद्वान् उसमें गोते लगाता रहता है। एक आचार्य ने लिखा है—

अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पापप्रमोचनी ।

जहाति पापं श्रद्धावान्, सर्पो जीर्णमिव त्वचम् ॥

अश्रद्धा घोर पाप है और श्रद्धा समस्त पापों का नाश करने वाली है। श्रद्धालु पुरुष समस्त पापों का उसी प्रकार त्याग कर देता है, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को छोड़ देता है।

इसका अभिप्राय यही है कि अगर मनुष्य अपने जीवन में किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम श्रद्धावान् बनना चाहिये। श्रद्धा के बिना उसमें दृढ़ता, संकल्प, शक्ति और साहस कदापि उत्पन्न न होगा और इन सबके अभाव में सिद्धि कोसों दूर रह जाएगी। क्योंकि जो व्यक्ति शंका और अविश्वास के चक्कर में पड़ा रहेगा, वह प्रथम तो

किसी पथ पर चलने का साहस ही नहीं करेगा और अगर चल दिया तो उसके कदम दृढ़ नहीं हो सकेंगे। अर्थात् अविश्वास की आंधी के कारण वह डगमगाता रहेगा। इसीलिए संसार के सभी धर्म और धर्मग्रन्थ श्रद्धा पर बल देते हैं। गीता में स्पष्ट कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छुद्धः स एव सः ।

यह आत्मा श्रद्धा का ही पुतला है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही बन जाता है।
सिक्ख धर्म कहता है—

निश्चल निश्चय नित चित्त जिनके ।

वाहि गुरु सुखदायक तिन के ॥

वे ही मनुष्य सुख की प्राप्ति कर सकते हैं, जिनके हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण है।
ईसाई धर्म भी यही मानता है।

A doubt minded man is unstable all his ways.

एक श्रद्धाहीन मानव अपने समस्त कृत्यों में चलायमान रहता है। उसके दिल या दिमाग, किसी में भी स्थिरता नहीं होती। हमारे जैन शास्त्र तो श्रद्धा को धर्म का मूल मानते हैं। वे कहते हैं—

सद्धा परम दुल्लहा ।

श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने अतिशय पुण्यों का उपार्जन किया हो, अर्थात् जो अतीव सौभाग्यशाली हो और जिसने पूर्व में अत्यधिक साधना की हो उसी को श्रद्धा की प्राप्ति होती है। उसकी श्रद्धा इतनी दृढ़ होती है कि भयंकर से भयंकर आपत्तियाँ और शारीरिक कष्ट भी उन्हें अपनी साधना से विचलित नहीं कर पाते।

कहा जाता है कि एक बार श्री रामकृष्ण परमहंस के गले में नासूर हो गया। बहुत इलाज करवाने पर भी वह ठीक नहीं हो रहा था। इसी बीच उनके एक भक्त ने आकर कहा— अगर आप मन को एकाग्र करके निरन्तर कहते रहें, रोग चला जा, रोग चला जा। तो निश्चय ही आपका रोग जड़ से चला जाएगा। रामकृष्ण परमहंस बोले—“जो मन मुझे सच्चिदानन्दमयी मां का स्मरण करने के लिए मिला है, उसे इस हाड़-मांस के पिजरे में लगाऊँ?” तब शिष्य ने आग्रह किया—“अच्छा तो आप मां से ही प्रार्थना करे कि वह आपके रोग को नष्ट कर दे।” श्रद्धावान रामकृष्ण ने उत्तर दिया—“मां सर्वज्ञ है और दयालु है। मेरे कल्याण के लिये उन्हें जो ठीक लगता है वे कर ही रही हैं। फिर उनकी व्यवस्थामें मैं क्यों गड़बड़ करूँ? यह छिछोरापन तो मुझसे नहीं हो सकेगा।”

उपासकदशांग सूत्र में भी कामदेव श्रावक का वर्णन आया है। उसकी श्रद्धा कितनी प्रगाढ़ थी? देवता ने उसे अपने धर्म से विचलित करने के लिए क्या नहीं किया? नाना प्रकार की भयंकर धमकियाँ दी और उन्हें कार्य रूप में परिणत भी किया, किन्तु कामदेव अपने सत्पथ या धर्म पथ से रंचमात्र भी च्युत नहीं हुआ। अगर उसके हृदय में दृढ़ श्रद्धा का वास न होता तो वह अपने मार्ग से विचलित हो जाता। श्रद्धा ने ही उसके चित्त में अजय शक्ति और साहस का आविर्भाव किया। किसी ने सत्य कहा है—

श्रद्धया साध्यते धर्मो, यद्भिन्नार्थराशिभिः ।

अकिञ्चना हि मुनयः, श्रद्धावन्ता दिवंगताः ॥

महान पुरुष अपनी अटल श्रद्धा के बल पर ही धर्म की आराधना करते हैं। श्रद्धा के अलावा संसार की अन्य अमूल्य वस्तु या अपार धनराशि भी धर्म-साधना में सहायक नहीं बनती। अगर ऐसा होता तो बड़े-बड़े राजा और चक्रवर्ती ही अपने वैभव का त्याग क्यों करते? धन के द्वारा धर्म का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। मुनिजनों के पास कौन सा धन होता है? वे तो एक पाई भी अपने पास नहीं रखते। अपनी समस्त भौतिक सम्पदा का त्याग करके ही मुनि बनते हैं तथा अकिञ्चनता को अपनाते हैं। केवल अपनी श्रद्धा के द्वारा ही आत्म-साधना करके स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

पर आज कहां है ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा ? आज तो एक-एक पाई के लिए लोग धर्म को बेच देने के लिए तैयार हो जाते हैं। पैसे-पैसे के लिए भगवान की और धर्म की कसम खा जाते हैं। पर अन्त में उनके हाथ क्या आता है ? कुछ भी नहीं, केवल पश्चात्ताप करते हुए यही कहना पड़ता है —

न खुदा ही मिला, न विसाले —मनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे ॥

वर्तमान भ्रष्टाचार का कारण यही है कि आज के मनुष्य में श्रद्धा का सर्वथा अभाव है। उसे यह विश्वास नहीं है कि हमारा पूर्वजन्म था और अगला जन्म भी होगा। पहले हमने जैसे कर्म किये थे, उनके अनुसार यह जन्म मिला है और अब जैसे करेंगे, वैसा अगले जन्म में प्राप्त होगा। उसे यह विश्वास नहीं है कि आत्मा अजर, अनर और अक्षय है। श्रद्धाहीन पुरुष यही समझते हैं कि जो कुछ भी है, यही जीवन है और इसमें जितना सांसारिक सुख प्राप्त कर लिया जाय करना चाहिये। यह विचार करता हुआ मानव विषय-भोगों की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है, किन्तु उनसे उसे तृप्ति कभी नहीं मिल पाती, क्योंकि तृष्णा या लालसा एक ऐसी कभी न बूझने वाली आग है, जो सदा जलती रहती है और जब तक जलती है जीव को शांति प्राप्त नहीं होती। एक उर्दू के कवि ने कहा भी है —

जिन्दगी की जलजलों में, जिस कदर आगे बढ़े ।
दिलकशी के साथ रास्ता पुर खतर होता गया ॥

ज्यों—ज्यों मनुष्य भोगों की ओर प्रवृत्त होता गया, उसका रास्ता और भी खतरनाक बनता चला गया। अर्थात् विषय-भोगों से उसने जितना सुख पाने का प्रयत्न किया, उतनी ही उसकी व्याकुलता अधिकाधिक सुख पाने के लिए बढ़ती गई। इसलिए महापुरुष कहते हैं कि सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय भोगतृष्णा का निरोध करना है। जो भव्य प्राणी इस बात को समझ लेते हैं वे तनिक सा निमित्त मिलते ही समस्त भौतिक सुखों को ठोकर मार देते हैं किन्तु यह सच्ची आत्म-श्रद्धा के बिना सम्भव नहीं है।

सच्ची आत्म-श्रद्धा ही आत्मोत्थान का मूल कारण है। श्रद्धा के अभाव में कोई भी मानव इस भव-सागर से पार उतरने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि देव, गुरु और धर्म में सच्ची श्रद्धा रखने से क्या नहीं हो सकता ? पूज्यपाद अमित्रद्विष जी म० कहते हैं —

तारे गौतमादि कुवचन के कहनहारे
गौशालक जैसे अविनीत को उधारे हैं ।
चंडकोष अहि वेह सम्यक् निहाल कियो,
सती चंदना के सर्वे संकट विदारे हैं ।
महा अपराधी के न आने अपराध उर,
शासन के स्वामी ऐसे दीन रखवारे हैं ।
कहे अमीरिख मन राखरे भरोसा दृढ़,
ऐसे ऐसे तारे फिर तोहि क्यों न तारे हैं ।

जब कटुवचन बोलने वाले गौतम को, अविनीत गोशालक को तथा महाविषयर चंडकौशिक को सम्यक्त्वरत्न प्रदान कर निहाल कर दिया तथा चंदना जैसी महासतियों के समस्त संकटों को दूर किया, तो फिर अपराधियों के अपराधों पर ध्यान न देने वाले वीर प्रभु तुझे क्यों नहीं तारेंगे ? अर्थात् अवश्य तारेंगे। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु के हृदय में यह सम्यक् श्रद्धा होनी चाहिये कि उसका भी उद्धार हो सकता है।

श्रद्धा की शक्ति बड़ी जबरदस्त होती है। आप दान देंगे, शील पालेंगे तथा तप भी करेंगे, किन्तु हृदय में श्रद्धा नहीं होगी तो ये सब कार्य ऊपरी और दिखावे के बन जायेंगे। कहा है —

“शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व क्रिया करी,
छार पर लिपणु तेह जाणो रे।

मुस्लिम मजहब में भी कहा है —

नमाज तुम हम सभी जो पढ़ते,
मारे फर्क है इतना जो धरते।
कोई दिलों से कोई दिखाने के लिये।

जिस प्रकार हमारे यहाँ सामायिक-प्रतिक्रमण है, वैष्णव समाज में संध्यावन्दन आदि है इसी प्रकार मुस्लिम समाज में नमाज है। श्रद्धा सब जगह एक सी है। सभी भगवान की ओर लौ लगाते हैं। फर्क केवल भाषा में है, भाव में नहीं।

नमाज पढ़ने वाले कहते हैं — “ऐ खुदा ! मैं गुनहगार हूँ, मेरे गुनाह माफ करो।” संध्या करने वाले भावना भाते हैं— “मेरे जीवन-व्यवहार में जो भी हिंसा हुई है, मेरे द्वारा किसी प्राणी का दिल दुखाया गया है तो भगवन् मुझे क्षमा करो !” “हम लोग प्रतिक्रमण में मिच्छामि-दुक्कड” लेते हैं, वह भी अमराधों की माफ़ी मांगना ही है। वस नाम सब अलग रखते हैं। कोई प्रार्थना कहता है, कोई संध्या और कोई नमाज, पर प्रयत्न तो पापों से छूटने के लिए ही है। सच्चे हृदय से और अन्तःकरण की सम्पूर्ण श्रद्धा से प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति दिखावा नहीं करता। वह अपने इष्ट के लिए उद्यत रहता है फिर चाहे वह हिन्दू हो, ईसाई हो, वैष्णव हो या मुसलमान हो।

सच्चे श्रद्धालु भक्त ऐसे ही होते हैं। वे प्रार्थना में अन्तर नहीं मानते, चाहे वह किसी भी भाषा में क्यों न होवे। वे भगवान में अन्तर नहीं मानते चाहे उनका नाम कुछ भी हो। पूज्य आनन्दघनजी म० कहते हैं —

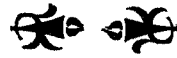
राम कहो रहमान कहो कोउ, कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
निजपद रमे राम तो कहिये, रहम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हें सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री।

कितना सुन्दर पद्य है। अपने इष्ट को चाहे राम कहो, रहीम कहो, महादेव, पार्श्वनाथ या ब्रह्मा कहो, कोई अन्तर नहीं है। आत्म-स्वरूप में रमण करे, वह राम है, रहम अर्थात् प्राणियों पर दया करे, वह रहमान है, कर्मों को काटने का प्रयत्न करे वह कृष्ण है, संसार मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करे वह महादेव, आत्म-रूप को स्पर्श करे वह पार्श्वनाथ और आत्मा की पहचान करे वह ब्रह्म हैं। अर्थात् यह आत्मा ही भगवत्-स्वरूप एवं चैतन्यमय है, फिर चाहे वह किसी भी नामधारी देह में क्यों न रहे और उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय। वस्तुतः आत्मतत्त्व में यह अटूट आस्था ही यथार्थ श्रद्धा या सम्पक् दर्शन का मूल आधार है। इसके निम्न षट् स्थान माने गये हैं। १—आत्मा है, २—आत्मा नित्य है, ३—आत्मा कर्मों का कर्ता है, ४—आत्मा के कर्मों का प्रतिफल अवश्य मिलता है, ५—कर्मों से मुक्ति सम्भव है, और ६—मुक्ति का उपाय सद्धर्म का पालन है।

आवश्यकता केवल यही है कि ईश-चिन्तन, भजन, प्रार्थना, पूजा, सेवा, परोपकार, दान, शील-पालन तथा तपादि क्रियाएँ, आत्म-श्रद्धा के साथ की जाय। महाराज क्या कहेंगे? समाज के व्यक्ति क्या कहेंगे? इसलिये नहीं। समाज की दृष्टि में धर्मात्मा दिखाई देने की भावना से जो किया जाएगा वह दिखावा होगा, उसका कोई मूल्य नहीं होगा, किन्तु

अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए दोषों से बचते हुए जो व्यक्ति श्रद्धा-पूर्वक थोड़ा भी कुछ करेगा उससे भी वह अधिक लाभ उठा सकेगा।

वस्तुतः सम्यक् दर्शन या शुद्ध श्रद्धा का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार सूर्य का उदय सृष्टि को नया रूप, नया जीवन प्रदान करता है, रजनी का निविड़ अन्धकार सहस्त्ररश्मि के उद्गित होते ही असीम आलोक के रूप में पलट जाता है और चराचर जगत में एक नूतन स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उन्मेष होने पर आत्मा की भी ऐसी ही स्थिति होती है। जब तक सम्यग्दर्शन उदय नहीं होता, आत्मा जड़ता-ग्रस्त और प्राणविहीन सा बना रहता है। मगर सम्यग्दर्शन का उदय होते ही आत्मा में एकदम नवीन आलोक उत्पन्न होता है और वह आलोक उसमें एक ऐसा स्पन्दन पैदा करता है, जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया होता। सम्यग्दर्शन की अपूर्व ज्योति आत्मा के विचारों पर तो गहरा प्रभाव डालती ही है, व्यवहार में भी आमूल-चूल परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। विचार और आचार में गहरा सम्बन्ध है। आचार विचार का क्रियात्मक मूर्त रूप है और विचार व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। अतएव जब हमारी दृष्टि में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो आचार एवं विचार पर उसका असर न हो यह असम्भव है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही मनुष्य महाव्रत अथवा अणुव्रत अंगीकार कर सर्वव्रती या देशव्रती बन जाय, तथापि यह निश्चित है कि उसकी जीवन प्रणाली में उसके व्यवहार में महान् अन्तर आ जाता है। सम्यग्दर्शन या शुद्ध श्रद्धा का मुख्य कार्य यह है कि वह व्यक्ति की जीवन दृष्टि को बदल देते हैं। उसे भोगोन्मुख से आत्मोन्मुख बना देते हैं। यही श्रद्धा जीवन में मुख्य कार्य है, जिस से व्यक्ति आसक्ति, ममत्व और राग के घेरे से उपर उठकर परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है।



आत्मिक उत्क्रान्ति के सोपान

— प्र. वक्ता श्री सौभाग्यमलजी महाराज :

अनन्त अतीत काल में जब मानव ने विचार के क्षेत्र में प्रवेश किया, उसके सामने यह बराबर प्रश्न एक गूढ़ पहेली के रूप में उपस्थित हुआ। प्रकृति की अद्भुत लीलाएं—हिमाच्छादित उत्तुंग शिखरें, उफनते हुए नदी-नाले, सागर की अथाह जलराशि, विशाल मरुस्थल, घने वन—, आकाश में जगमगाने वाली असंख्य तारक मालिकाएं, बादलों की गर्जना और बिजली की चकाचौंध आदि को देखकर विचारशील मानव को सहज जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यह क्या हैं? क्यों हैं? कब से हैं? इसका कोई कार्य-कारण हैं या नहीं? आदि अगणित प्रश्न मानव के मस्तिष्क में उठने लगे। जिज्ञासा का यह प्रवाह आगे बढ़ता चला। विचारों का वेग निरन्तर चलता रहा। उसके चिन्तन का क्षेत्र व्यापक होता गया। उसके सामने प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या यह विश्व इतना ही है, जितना दिखाई पड़ता है या इस दृश्यमान जगत् से परे भी कोई अदृश्य सत्ता है? यह स्थूल जगत् ही सब कुछ है या कोई सूक्ष्म तत्त्व भी विद्यमान है? इसी संदर्भ में सोचते हुए उसे अपने सम्बन्ध में प्रश्न हुआ कि “मैं क्या हूँ? क्या मैं जड़ भूतों का पिण्ड हूँ या उससे पृथक् चेतन तत्त्व की विराट सत्ता हूँ?”

इन प्रश्नों ने मानव की चिन्तन-धारा को अविरत गति प्रदान की। निरन्तर काल से इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार होता चला आया है। महामनीषी चिन्तकों और विचारकों ने इन प्रश्नों को विभिन्न दृष्टिकोणों से उत्तरित करने के प्रयास किये हैं। इन प्रश्नों और उत्तरों का अध्ययन ही विचारणीय है।